

निरुक्तगत वैदिक आख्यान

प्रो. मानसिंह

यास्क्रीय निरुक्त में लगभग उन्नीस वैदिक आख्यानों का उल्लेख हुआ है। इनमें त्रित (४.६), देवापि तथा शन्तनु (२.११), मुद्गला भार्ग्यएव (९.२३-२४), विश्वकर्मा भौवन (१०.२६), विश्वामित्र-नदी-संवाद (२.२४-२७) और सरण्यू तथा विवस्वान् (१२.९-१०) इन छह आख्यानों का उल्लेख आचार्य यास्क ने 'इतिहास' के रूप में; यम तथा यमी (११.३३-३४), वृक्ष तथा वर्त्तिका (५.२१) एवं सरमा तथा पणि (११.२४-२५) इन तीन आख्यानों का उल्लेख 'आख्यान' के रूप में; और अगस्त्य तथा इन्द्र (१.५), इन्द्र तथा वृत्र (२.१६), उर्वशी तथा मैत्रावरुण वसिष्ठ (५.१३-१४), कुरुंग (६.२२), गृत्समद तथा कपिञ्जल (९.४५), च्यवन/च्यवान (४.१९), जालबद्ध मत्स्य (६.२७), दक्ष तथा अदिति (११.२३), भग का अन्धत्व (१२.१५) एवं श्येन तथा सोम (११.१) इन दश आख्यानों का उल्लेख किसी शब्द (१२.१५) एवं श्येन तथा सोम (११.१) इन दश आख्यानों का उल्लेख किसी शब्द (१२.१५) एवं श्येन तथा सोम (११.१) इन दश आख्यानों का उल्लेख किसी शब्द-विशेष के बिना किया है। यहाँ इन आख्यानों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है -

१. अगस्त्य तथा इन्द्र -

आचार्य यास्क ने संकेत किया है कि अगस्त्य ने इन्द्र के लिए हवि का निरुपण कर उसे मरुतों को दे डाला; इन्द्र ने आकर "न नूनमस्ति नो श्वः विनश्यति" (ऋ. १.१७०.१) मन्त्र से परिदेवना (मन्युपूर्वक विलाप) की (निरुक्त १.५)।^१ वस्तुतः इन्द्र ब्रह्म अथवा आत्मा है^२, वह एक अभिन्न होते हुए भी भिन्न-भिन्न जागतिक रूपों को धारण करता है^३, समस्त भुवन उसी में आश्रित हैं^४, वही यज्ञ का आत्मा है, देवता है^५। मरुत प्राण हैं^६। अगस्त्य जीव है - "अगं वृक्षं संसारवृक्षं स्त्यायति सङ्गृह्णातीति अगस्त्यः", अर्थात् जीवरूप अगस्त्य ने गर्भवास की अवधि में जीवनरूप हवि का निरुपण ब्रह्म किंवा आत्मरूप इन्द्र के लिए किया; किन्तु जगत में अवतीर्ण होकर वह अपना सङ्कल्प भूल गया और मरुतों

^१ नि. १.५; अगस्त्य इन्द्राय हविनिरुपय मरुच्यः सम्प्रदित्साञ्चकार। स इन्द्र एत्य परिदेवायाञ्चके।

^२ तुलनीय ऋ. १.१६४.४६; इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुर्गुर्यो दिव्यः स सुपणो गुरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ कौ. ब्रा. ६.१४; तस्मादाहेन्द्रो ब्रह्मेति; हेमचन्द्रः शब्दानुशासन ७.७.१७४।

^३ ऋ. ३.५३.८; रूपरूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्व १ परि स्वाम्। ६.४७.१८; रूपरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षेणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥

^४ मै.सं. १४.७; इन्द्रे ह विश्वा भुवाश्रितानीन्द्रं मन्ये पितरं मातरञ्च।

^५ श. ब्रा. (मा.) ९.५.१.३३; इन्द्रो यज्ञस्यात्मेन्द्रो देवता; २.१.२.११; ४.१.२.१५; ऐ. ब्रा. ५.३४; ६.९; इन्द्रो यज्ञस्य देवता।

^६ ऐ. ब्रा. ३.१६; प्राणा वै मरुतः स्वापयः; जै. उ. १.९.२.१; स यः प्राणो वायुः स।

अर्थात् प्राणों के लिए हवि देने लगा - वह प्राणमात्र के पोषण में प्रवृत्त हो गया^१। वस्तुतः मरुत् अर्थात् प्राण तो स्वयं ब्रह्म अथवा आत्मरूप देवता के प्रति ऋत्विक् हैं^२, उन्हें स्वयं देवतारूप समझ बैठना अविद्याजन्य भ्रान्ति है।

२. इन्द्र तथा वृत्र

आचार्य यास्क ने नैरुक्तों के अनुसार वृत्र को मेघ और ऐतिहासिकों के मत में त्वष्टा का पुत्र एक वृत्रनामा असुर माना है, जिसने अपने शरीर की वृद्धि से जलों के स्रोतों को अवरुद्ध कर लिया; इन्द्र द्वारा उसका वध किए जाने पर जल प्रवाहित हो उठे। नैरुक्तदृष्टि से दस आख्यान का रहस्योद्घाटन करते हुए वे कहते हैं कि जलों तथा ज्योत (विद्युत्) के मिश्रीभाव (मिश्रण) से दृष्टिकर्म की उत्पत्ति होती है; औपम्य की दृष्टि से इसी के वर्णन इन्द्र तथा वृत्र के युद्ध के रूप में किए गए हैं।^३ अतः इन्द्र तथा वृत्र का युद्ध कोई ऐतिहासिक घटना न होकर जलों तथा ज्योति (विद्युत्) के संघर्ष से उत्पन्न वृष्टिकर्म है। ध्यातव्य है कि स्वयम् 'ऋग्वेद' के अनुसार इन्द्र के युद्धों की चर्चा कल्पनामात्र है; इन्द्र का तो वस्तुतः न आज कोई शत्रु है और न ही कभी पहले कोई शत्रु था।^४

हमारी दृष्टि में इन्द्र ब्रह्म अथवा आत्मा है; और वृत्र अतत्त्व में तत्त्वभाव का प्रक्षेप करने वाली, अतात्त्विक नामरूपात्मक जागतिक प्रपंच के रूप में निवर्धमान, तत्त्व से पार्थक्यभावना उत्पन्न कर ब्रह्म अथवा आत्मभाव का आवरण एवम् अवरोध करने वाली शक्ति माया अथवा अविद्या^५, जो ब्रह्मानन्द अथवा आत्मानन्द रूप रस के सभी स्रोतों का निवारण कर लेती है।^६ यही हृदयाकाशरूप अन्तरिक्ष में संक्रान्त कर जाने अथवा आत्मभाव का आहनन करने के कारण 'अहि'^७ है और आत्मभाव रूप कर्म का उपदास करने के कारण 'दास'^८। ब्रह्मभाव अथवा आत्मभाव की प्राप्ति के लिए, रस की वृष्टि के लिए इससे संघर्ष कर इसका अपाकरण अनिवार्य है। यही इन्द्र-वृत्र का औपचारिक युद्ध है।

^१ तुलनीय ब्रह्ममुनिः निरुक्तसम्मर्शः (अजमेर; आर्ष साहित्य मण्डल लि. १९६६) पृ. २५-२६।

^२ निघण्टु ३.१८; मरुत् ऋत्विङ्गाम्।

^३ नि. २.१६; तत्को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्टोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्धा शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आपः।

^४ यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनैषु। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा विवित्से॥ द्रष्टव्य महेश्वर, निरुक्तभाष्यटीका, २.१६; तत्र मुख्ययुद्धसम्भवाभावादौपचारिकी उपमालक्षणार्थेन युद्धवर्णना। किं सादृश्यम्? संघर्षः। तस्मादसती युद्धकल्पनैषा। तथा च कल्पितरूपा मन्त्रवर्णा चैतस्मिन्नर्थेऽस्ति नेन्द्रस्य शत्रवः। "यदवरस्तन्वा... विवित्से" (ऋ.१०.५४.२)। श.ब्रा.(मा.)११.१.६.९ विज्ञायते च तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्देवासुरमिति।

^५ तुलनीय 'वृत्र' शब्द के निर्वचन, नि. २.१७ वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्द्धतेर्वा। यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्द्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते।

^६ तुलनीय तदेव २.१६ विवृद्धा शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार।

^७ तदेव २.१७ अहिरयनादेत्यन्तरिक्षे। अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव निर्हसितोपसर्ग आहन्तीति। 'अन्तरिक्ष' का निर्वचन भी द्रष्टव्य, तदेव २.१० शरीरेष्वन्तरिक्षमिति।

^८ तदेव २.१७ दासो दस्यतेरुपदासयति कर्माणि।

३. उर्वशी तथा मैत्रावरुण वसिष्ठ

आचार्य यास्क ‘निरुक्त’ (५.१३-१४) में पहले ‘उर्वशी’ पद की निर्वचन के माध्यम से व्याख्या करते हैं; (उर्वशी वह अप्सरा है जो) उरु अर्थात् महान् यश को व्याप्त करती है (उरु + अश); अथवा अपने ऊरुओं से (मैथुन धर्म में पुरुष को) व्याप्त/वशीभूत करती है (ऊरु + अश); अथवा उरु अर्थात् महान् वश अर्थात् काम से युक्त (वशिनी) है (उरु + वश)। तदनन्तर ‘अप्सरा’ शब्द के निर्वचन प्रस्तुत करने के पश्चात् वे कहते हैं कि उर्वशी के दर्शन से मित्र तथा वरुण का रेतस् (शुक्र) स्कन्न (पतित) हो गया, जिसे विश्वेदेवों ने पुष्कर (वासतीवर कुम्भ) में धारण कर लिया। तत्पश्चात् इसका वर्णन करने वाली ‘ऋग्वेद’ की ऋक् -

उतास मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः।

द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ॥ (७.३.११)

उद्धृत की गई है, जिसके भाष्य में वे मैत्रावरुण वसिष्ठ के उर्वशी के मन से उत्पन्न पुत्रत्व को स्पष्ट करते हैं।^१

स्कन्दस्वामी ने अपनी टीका (नि. ५.१४) में नित्यपक्ष में इस आख्यान की योजना कर इसका गर्भभेदन किया है। तदनुसार उर्वशी विद्युत् है, वसिष्ठ आच्छादित उदकसंघात, मित्रावरुण वायु तथा आदित्य और विश्वेदेवा रश्मियाँ। इस प्रकार मित्रावरुण अर्थात् वायु तथा आदित्य से आकृष्ट होकर वसिष्ठ अर्थात् आच्छादित उदकसंघात उर्वशी अर्थात् विस्तीर्णा अन्तरिक्षव्यापिनी विद्युत् के सङ्कल्प के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। उस स्कन्न अर्थात् मुक्त उदकसंघात को दैव्य अर्थात् द्युलोकस्थ आदित्य के द्वारा रश्मियाँ प्रावृट् में पुष्कर अर्थात् अन्तरिक्ष में धारण करती हैं।^२

४. कुरुंग

‘दिविष्टिषु’ पद की व्याख्या के प्रसंग में उद्धृत “स्थूरं राधः शताश्वं कुरुंगस्य दिविष्टिषु” (ऋ. ८.४.१९) मन्त्रांश में आगत ‘कुरुंगस्य’ पद का व्याख्यान करते हुए आचार्य यास्क की उक्ति है: कुरुंगों राजा वभूव कुरुगमत्राद्वा कुलगमनाद्वा। कुरुः कृन्ततेः। क्रूरमित्यप्यस्य भवति। कुलं कुष्णातेर्विकुषितं भवति। (नि. ६.२२)। इन शब्दों से प्रतीत होता है कि आचार्य यास्क कुरुंग को कोई कुरुगामी अथवा कुलगामी राजा मानते हैं। कात्यायनीया ‘ऋक्सर्वानुक्रमणी’ (३९.९.११) के अनुसार उपर्युद्धृत मन्त्र वाले सूक्त (८.४) का ऋषि देवातिथि काण्व तथा देवता इन्द्र है, जबकि तृच (८.४.१९-२१) को देवता कुरुंगदान है। प्रायः इन्द्रदेवताक मन्त्रों में मरुत् तथा राजाओं की दानस्तुतियाँ गौणरूप से वर्णित होती

^१ नि. ५.१३-१४ उर्वश्यप्सरा उर्वश्यश्रुत ऊरुभ्यामश्रुत उरुर्वा वशोऽस्या। तस्या दर्शान्मित्रावरुणयो रेतश्स्कन्द.... अप्यसि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मान्मनसोऽधिजातो द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन। सर्वे देवाः पुष्करे त्वा धारयन्त।

^२ नि. ५.१४ पर नित्यपक्षे तु उर्वशी विद्युद् वसिष्ठोऽप्याच्छादित उदकसंघातः मित्रावरुणावपि वाय्वादित्यौ विश्वे देवा रश्मयः। मैत्रावरुणो मित्रावरुणाभ्यां वाटवादित्याभ्यामाकृष्टः सन्.... हे वसिष्ठ आच्छादयितुतम.... उदकसंघात उर्वश्या उर्वन्तरिक्षव्यापिन्या विद्युतः अधि.... जातः उत्पन्नः। हे ब्रह्मन् परिवृद्ध....। मनसः.... तन्मनसश्च सम्बन्धात् संकल्पो लक्ष्यते। द्रप्सं संमितं भक्षयितव्यं चोदकसंघातं स्कन्नं मुक्तं ब्रह्मणा दैव्येन दिवि भवेनादित्येन विश्वे देवा रश्मयः.... प्रावृषि पुष्करेऽन्तरिक्षे त्वां धारितवन्तः।

हैं। पुत्रत्वेन अथवा जयार्थं कुरुगामी; अथवा विजयार्थं शत्रुकुलगामी^१; अथवा कुलगामी अर्थात् कुलीन^२ होने से उन्हें कुरुंग कहा जाता है।

५. गृत्समद तथा कर्पिंजल

आचार्य यास्क स्वीय 'निरुक्त' (९.४-५) में कहते हैं कि अभ्युद्यत ऋषि गृत्समद ने कर्पिंजल पक्षी से कहा कि हे कर्पिंजल! मेरे दक्षिण से, उत्तर से, सामने से और पीछे से अर्थात् सभी दिशाओं से भद्र (कल्याणकारी) बोलो^३। शकुनिशास्त्र की दृष्टि से कतिपय पक्षिविशेषों के बोलने तथा दिशाविशेष से बोलने से भद्र अथवा अभद्र का विचार किया जाता है^४। यास्क ऋषि गृत्समद को मेधावी (गृत्स, गृस्तुतौ) तथा हर्षालु (मदन) होने से 'गृत्समद' मानते हैं^५। वे 'ऋग्वेद' के २ मण्डल के द्रष्टा ऋषि हैं^६।

६. च्यवन (च्यवान) की यौवनप्राप्ति

आचार्य यास्क ने 'निरुक्त' (४.१९) में 'च्यवानः' पद के व्याख्यान प्रसंग में 'ऋग्वेद' (१०.३९.४) के उद्धरणपूर्वक कहा है कि च्यवन स्तोमों का च्यावयिता होने से ऋषि है। उद्धृत मन्त्रा की व्याख्या में वे कहते हैं कि जैसे जीर्ण रथ को गमनार्थ नया बना लेते हैं वैसे ही हे अश्विनौ! आपने युवा होने पर भी वृद्ध च्यवन को युवा बना दिया^७। देववैद्य अश्विनौ द्वारा यौवन में भी जराजीर्ण च्यवन (च्यवान) को पुनः युवा बना देने के उल्लेख 'ऋग्वेद' में अनेकत्र प्राप्त होते हैं^८। यह आख्यान 'शतपथ-ब्राह्मण' (४.१.५), 'महाभारत' (वनपर्व, अध्याय १२१-१२३), 'श्रमद्भगवत' (९.३) आदि ग्रन्थों में भी प्राप्य है।

७. जालबद्ध मत्स्य

आचार्य यास्क ने 'निरुक्त' (६.२७) में 'अभिधेतन' पद के व्याख्या प्रसंग में 'ऋग्वेद' (८.६७.५) का उद्धरण देकर कहा है कि यह जालबद्ध मत्स्य रूप ऋषियों की उक्ति है: हे आदित्यों! हमारे वध से पूर्व, हमारे जीवित रहते-रहते (रक्षणार्थ) दौड़कर आ जाओ; हे आह्वान को सुनने वालों। तुम कहाँ इस प्रकार धीवरजालनद्ध मत्स्यों ने रक्षणार्थ आदित्यों का आह्वान किया। सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन

^१ दुर्गवृत्ति स हि कुरुन् प्रति पुत्रत्वेन गतो जेतुं वा। कुलगमनाद्वा। शत्रुकुलानि हि स नित्यमेव याति विजेतुम्।

^२ स्कन्दस्वामी, निरुक्तटीका: कुरुन् निराह कुरुनसौ पुत्रत्वेन गतवान्। राजत्वेन कुलगमनाद्वा कुलीन इत्यर्थः। कुलव्यवस्थागमनाद्वा। शत्रुकुलानि वा जेतुम्।

^३ ऋग्वेद, खिलसूक्त ३.१ भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद। भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कर्पिंजलम्।

^४ द्रष्टव्य दुर्गवृत्ति, नि. ९.५ इह शकुनिः कस्याञ्चिद् दिशि साधुर्भवति। कस्याञ्चिदसाधुः।

^५ नि. ९.५ गृत्समदो गृत्समदनः। गृत्स इति मेधाविनाम गृणोते: स्तुतिकर्मणः।

^६ विस्तरहेतु द्रष्टव्य Raharkar, V.G., The Seers of the Rgveda, (Poona University of Poona, 1964) Chap. I, pp. 1-15

^७ युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरणाय तक्षथुः।

^८ नि. ४.१९; च्यवन ऋषिर्भवति। च्यावयिता स्तोमानाम्। च्यवानमित्यप्यस्य निगमा भवन्ति। ... युवां च्यवनं सनयं पुराणं यथा रथं पुनर्युवानं चरणाय तक्षथुः। तक्षति करोतिकर्मा।

^९ ऋ. १.११६.१०, ११७.१३, ११८.६; ५.७४.५; ६८.६; १०.३९.४

^{१०} वही ८.६७.५ जीवान्नां अभिधेतनादित्यासः पुरा हथात्। कद्ध स्य हवनश्रुतः॥

के अनुसार इस सूक्त (ऋ. ८.६७) के ऋषि सम्मद नामक मीनराज के पुत्र अथवा मित्रावरुण के पुत्र मान्य हैं। वस्तुतः यहाँ जीव ही भवसागर में विद्यमान, काल के कराल जाल में वृद्ध मत्स्य हैं, जो मोक्षहेतु देवों से याचना करते हैं।

८. त्रित

आचार्य यास्क ने ‘निरुक्त’ (४.६) में ‘मूषः’ पद के व्याख्यान प्रसंग में त्रित का उल्लेख किया है। उनके अनुसार (ऋग्वेद १.१०५.८) कूपपतित त्रित को प्रतिभासित हुआ। मेधा से तीर्णतम (अध्यधिक मेधावी) होने के कारण वह त्रित था अथवा संख्या से पड़ने वाला नाम भी यहाँ अभिप्रेत हो सकता है - एकत, द्वित तथा त्रित ये तीन हुए। त्रित के कूप में पड़ने की बात ‘ऋग्वेद’ (१.१०५.१७) में आर्द्र है - “त्रित कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये। १.१०५.९ में उसके लिए ‘आस्यः’ शब्द भी प्रयुक्त है - “त्रितस्तद् वेदस्यः। त्रित के विषय में कई आख्यान उपलब्ध होते हैं। ‘तैत्तिरीय-ब्राह्मण’ (३.२.१०) के अनुसार हविर्भूत देवों ने हवि को स्वच्छ करने की कामना की। अग्नि ने उनसे कहा कि आप लोग मुझमें अपने शरीरों को स्थापित करें, मैं आपके लिए हवि को स्वच्छ करने का पदार्थ उत्पन्न करूँगा। अतः देवों ने अग्नि में अपने शरीरों को स्थापित किया। इसलिए अग्नि को सर्वदेव मानते हैं। अग्नि द्वारा अंगार से जलों को गिराने पर एकत उत्पन्न हुआ; दूसरे को गिराने से द्वित और तीसरे को गिराने पर त्रित उत्पन्न हुआ। जलों से उत्पत्ति होने से इनका आप्यत्व है और आत्मा से उत्पन्न होने से आत्म्यत्व। देवों ने इनमें हवि को शुद्ध किया। ‘शतपथ-ब्राह्मण’ के अनुसार पूर्वकाल में अग्नि चार विभागों में विभक्त था। इन अग्नियों में प्रथम होत्रकर्म के लिए देवों ने जिन प्रथम तीन अग्नियों को एक-एक कर चुना वे सब भाग निकले। आजकल का अग्नि डरकर जलों में छिप गया। देवगण उसे ढूँढकर निकालकर ले आए। उस अग्नि ने जलों के सुरक्षित स्थान न होने से उनके ऊपर थूक दिया, जिससे त्रित, द्वित तथा एकत आस्य उत्पन्न हुए। ये तीनों राजा का अनुगमन करने वाले ब्राह्मण की भाँति इन्द्र के साथ विचरण करने लगे। इन्द्र ने जब त्रिशीर्षा त्वाष्ट्र विश्वरूप का वध किया तब इन्होंने भी उसे बध्य समझा; त्रित ने उसे झटिति मार डाला। इन्द्र देव होने से उस दुःख से छूट गए। ‘मैत्रायणी-संहिता’ में यह आख्यान इस प्रकार है: देवों को यज्ञ की क्रूरता को धोने के पदार्थ के विषय में मालूम नहीं था। अग्नि ने उनके लिए उसे उत्पन्न करने का वचन दिया। उसने अंगारे से जल को गिराया, जिससे एकत उत्पन्न हुआ; दूसरी

^१ निरुक्त ४.६ त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमुच्चिश्रं भवति। त्रितस्तीर्णतमो मेधयावभूव, अपि वा संख्यानामेवाभिप्रेतं स्यादेकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवुः।

^२ श.ब्रा. (मा.) १.२.७.१-३

बार गिराने से द्वित तथा तीसरी बार गिराने से त्रित। जल से उत्पन्न होने से इन आपेयों का आपेयत्व और आत्मा से उत्पन्न होने से इनका आत्मेयत्व है^१।

महीधर ने इस आख्यान का वर्णन करते हुए कहा है कि पहले कहीं से भयभीत अग्नि जलों में प्रविष्ट हो गया। देवों ने उसे जानकर वहाँ से निकाल लिया। अग्नि ने अपने वीर्य को जलों में छोड़ दिया, जिससे त्रित, द्वित तथा एकत नामक आप्त्य उत्पन्न हुए। उन्होंने देवों के साथ विचरण करते हुए यज्ञ में पात्री-प्रक्षालन के जल के रूप में अपने भाग को प्राप्त किया^२।

‘सामवेद’ (४.८.९) के अपने भाष्य में भरतस्वामी त्रित की कथा को कुछ अन्य प्रकार प्रस्तुत करते हैं: आप्त ऋषि के तीन पुत्र हुए - एकत, द्वित तथा त्रित। गायें लेकर वे घर को चल दिए। मार्ग में जाते हुए उन्हें सरस्वती के अन्य तट पर बैठे हुए एक गोभक्ष पशु ने देखा। उसने सरस्वती-नदी को तैरकर रात्रि में उन्हें परेशान किया। भय से त्रस्त उनमें त्रित एक निर्जल और तृण-वल्ली आदि से भरे हुए कूप में गिर पड़ा। तत्रस्थ उसके मन में विचार आया कि सङ्कल्प कर लेने पर याग किए बिना मेरी मृत्यु कल्याणकारी नहीं होगी; अतः किसी प्रकार यहाँ पड़ा हुआ ही मैं सोमपान करूँ।

भरतस्वामी के अनुसार अन्य लोग इस कथा को अन्य रूप में कहते हैं; एकत तथा द्वित को थोड़ी गायें प्राप्त हुई, जबकि त्रित को बहुत-सी गायें मिलीं। ईर्ष्यावश उन्होंने त्रित को कूप में डाल दिया और उसकी गायें ले लीं। त्रित को चिन्ता हुई कि मेरे ऋत्विजों को कुछ नहीं मिलेगा। ऐसा विचार करते हुए उसने कूप में उसी वीरुध (लता) देखी। उसे मन में सोम मानकर और शर्कराओं (कंकड़ों) को अभिषवग्रावा मानकर उसने उस लता का अभिषव किया। अभिषव कर देवों का आह्वान किया। आहूत देव वहाँ आ गए, आह्वान का कारण न जानकर वे व्याकुल हुए। बृहस्पति ने सुना और देवों से कहा कि त्रित के यज्ञ हो रहा है, वहाँ चलते हैं। फिर देव गए। वहाँ आए देवों की कूप से निकलने के इच्छुक त्रित ने स्तुति की और उन्हें उपालम्भ दिया - “अमी ये देवाः स्थन” आदि।

‘सामवेद’ (५.३.९) के भाष्य में भरतस्वामी इस कथा को शब्दान्तरपूर्वक इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं: इस विषय में इतिहास कहते हैं। आप्त ऋषि के तीन पुत्र थे - एकत, द्वित तथा त्रित। उन्होंने यज्ञ करने की कामना से अपने याज्यों से गायों की याचना की और उन्हें प्राप्त किया। गायों को लेकर सरस्वती के तटवर्ती मार्ग से जाते हुए उन्हें दूसरे तट पर बैठे एक भेड़िये ने देखा। वह देखकर उठकर चला तथा उन्हें पकड़ने का यत्न किया। भयभत ऋषि तथा गायें भाग निकले। उनमें त्रित तृण, वीरुध तथा धूल से युक्त निर्जल अन्धकूप में गिर पड़ा। एकत तथा द्वित गायों को लेकर भाग गए। उस समय त्रित को चिन्ता हुई कि कृतसङ्कल्प व्यक्ति की सोमयाग किए बिना मृत्यु श्रेयस्कर नहीं; अतः कौन-सा उपाय है कि मैं सोमपान कर सकूँ। इस प्रकार चिन्ता करते हुए उसने वहाँ लटकती हुई एक लता देखी। उसे सोमरूप में सङ्कल्प कर, योगैश्वर्य से जल तथा अग्न्याधानादि यागसाधनों की उत्पत्ति कर, शर्करा

^१ मै.सं. ४.१.९

^२ वाज. सं. १.२३ पर भाष्य।

(कंकडों) को ग्रावस्थानी कल्पित कर उसने उस लता का अभिषव किया। अभिषव कर उसने देवों का आह्वान किया। आह्वान का कारण न जानकर देव आविग्र हो गए। उसने आह्वान को बृहस्पति ने सुना। उन्होंने देवों से कहा कि इस कूप में त्रित का यज्ञ चल रहा है, वहाँ चलते हैं। वहाँ सब देव आ गए। आए हुए देवों की कूप से निकलने की कामना करने वाले त्रित ने क्रमशः स्तुति की - “चन्द्रमा अप्स्वाऽश्न्तरा” आदि।

‘सामवेद’ (५.३.९) के इसी मन्त्र के अपने भाष्य में माधव त्रितसम्बन्धी आख्यान का एक भिन्न ही रूप प्रस्तुत करते हैं: आप्त के तीन पुत्र थे - एकत, द्वित तथा त्रित। उन्होंने यज्ञ में प्राप्त गायों को लेकर वापसी का मार्ग लिया। वे मरुस्थल में पिपासाकुता हो एक कूप को देखकर उस पर बैठ गए। उनमें त्रित कूप में उतर गया। दूसरे दोनों बाहर ही से जल प्राप्त कर तृप्त हो गए और कूप को चक्र से ढक कर गायों को लेकर भाग गए। कूपपतित त्रित देवों को ‘मेरी सुनो’ कहकर पुकारने लगा। वह कूप जिसमें पिपासा के कारण त्रित गिरा था निर्जल था। रात्रि में चन्द्रमा को देखकर उसकी यह परिदेवना है।

आचार्य सायण ने ‘ऋग्वेद’ (१.१०५.१) के भाष्य में शाट्यायनी लोगों के अनुसार इस इतिहास को इस प्रकार उद्धृत किया है: पुराकाल में एकत, द्वित तथा त्रित ये तीन ऋषि हुए। वे कभी मरुभूमि में अरण्य में पिपासाकुल तथा सन्तप्तगात्र हो एक कूप पर पहुँचे। उनमें से त्रित कूप में नीचे उतरा। उसने स्वयं जल पीकर कूप से जल निकालकर औरों को जल दिया। एकत तथा द्वित ने जल पीकर, त्रित को कूप में धकेल कर, उसके समग्र धन को लेकर और कूप को रथचक्र से ढक कर प्रस्थान किया। तब कूपपतित त्रित ने बाहर निकलने में असमर्थ हो “सारे देव मेरा उद्धार करें” ऐसा मन में स्मरण किया। तत्पश्चात् उन (देवों) के इस स्तुतिविषयक सूक्त का दर्शन किया^१।

स्कन्दस्वामी ने इस आख्यान की नित्यपक्ष में सुन्दर आध्यात्मिक योजना की है नित्यपक्ष में त्रित वस्तुतः शुक्लक्षण क्षेत्रज्ञ है, जो कर्मपाशों से स्वर्ग, नरक तथा मर्त्य लोकों में बंधा हुआ कर्म-ज्ञान के समुच्चय के अभाव में अपवर्ग को प्राप्त न करता हुआ घटीयन्त्र के समान चक्र के रूप में चलने वाले इस संसार में, नरक में घूमता हुआ परिदेवना कर रहा है। परीषतन्तु के गृह के सदृश, अपवित्र प्रस्तर के समान माता के उदर (गर्भ) में मग्न, यकृत्कौमावष्टम्भ आदि विभक्त उच्छ्वासयुक्त तथा बीभत्सा का अनुभव करते हुए रक्त के कीचड़ में शयन करने वाले, निरालोक अन्धकार में संवर्तमान मुझे माता की पशु (पसत्वियाँ; कूपपक्ष में कूप की ईंटें - दुर्ग) कष्ट पहुँचा रही हैं। गर्भ में रहते हुए मुझे सम्यग्दर्शन की

^१ द्रष्टव्य Ram Gopal, The History and Principles of Vedic Interpretation (New Delhi : Concept publishing company, 1983) pp. 53-58 वैद्यनाथ शास्त्री, वैदिक-इतिहास-विमर्श (अजमेर आर्य साहित्य मण्डल लि., जून १९६१) पृ. १०२-१०८

अपूर्ण कामनाएँ वैसे ही सता रही हैं जैसे चूहे अपनी पूँछ को काटते हैं^१। त्रितरूप इन्द्र को क्षेत्रज्ञ (प्रत्यगात्मा) मानने में कोई आपत्ति नहीं है। 'कौषीतिकि ब्राह्मण' में इन्द्र को ब्रह्म माना गया है^२।

'ऋग्वेद' (१०.८.७-९) में त्रित का इन्द्र के सहायक के रूप में उल्लेख है, साथ ही उसे त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप का हन्ता माना गया है। 'ऋग्वेद' (८.१२.१६) में आस्य त्रित और मरुतों के आने पर इन्द्र के सोमपान का उल्लेख है। आचार्य यास्क ने 'निरुक्त' (९.२६) में त्रित को त्रिस्थान इन्द्र माना गया है "त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रः"। 'वाजसनेयिसंहिता' (३४.७) के अपने भाष्य में उवट तथा महीधर दोनों ही ने त्रित का अर्थ 'त्रिस्थान इन्द्र' किया है^३। 'निरुक्त' (९.२५) की टीका में स्कन्दस्वामी ने स्पष्ट किया है कि त्रिस्थानत्व का तात्पर्य वायुरूप से, अथवा बकृतिरूप से, अथवा सवन-सम्बन्ध से है। त्रित को त्रिस्थान इन्द्र मानना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। स्कन्दस्वामी द्वारा त्रित अर्थात् इन्द्र को क्षेत्रज्ञ मानकर नित्यपक्ष में योजना करना उचित ही है, क्योंकि इन्द्र आत्मा (प्रत्यगात्मा) है^४।

९. दक्ष तथा अदिति

आचार्य यास्क मध्यमस्थाना स्त्रीदेवताओं में आगत अदिति के प्रसंग में कहते हैं कि दक्ष आदित्य माना गया है, क्योंकि आदित्यों के मध्य उसकी स्तुति की गई है; अदिति दाक्षायणी (दक्ष से उत्पन्न) है^५। 'ऋग्वेद' (१०.७२.४)^६ के प्रमाण से वे दक्ष तथा अदिति को देवधर्म से इतरेतरजन्मा तथा इतरेतप्रकृतिक मानते हैं^७। अतः यास्क की दृष्टि से दक्ष आदित्य और अदिति प्रातस्तनी प्रारम्भिकी उषा है। अदिति अर्थात् उषा से दक्ष अर्थात् आदित्य का जन्म होता है; और दक्ष अर्थात् आदित्य के संस्पर्श से अदिति अर्थात् उषा का आविर्भाव होता है - आदित्य के संस्पर्श से युक्त प्रदेश में उषा का जन्म होता है।

^१ नि. ४.६ नित्यपक्षे त्रितो नाम शुक्लक्षणः कर्मपाशैस्त्रिः स्वर्गनरकमर्त्येषु वद्धः कश्चित् क्षेत्रज्ञः। कर्मज्ञानसमुच्चयाभावादपवर्गमनाप्युवन् नरके घटीयत्रवद् घटिते संसारे वग्भ्रम्यमाणः परिदेवाञ्चक्रे। सन्तापयन्ति मां पुनर्मातुरुदरे मग्नमशुचिप्रस्तरके पुरीषतन्तुजालये यकृत्स्नोभावष्टम्भादेर्विभक्तोच्छ्वासो बीभत्समानमसृक्पङ्कमध्यशायिनं तमसि निरालोके संवर्तमानमभितो मातुः पर्शव इव तत्रस्थस्य च मूषो न शिक्षा व्यदन्ति माध्यः सम्यग्दर्शनविष्याः कामा असम्पद्यमानाः।

^२ कौ.ब्रा. ६.१४ तस्मादाहेन्द्रो ब्रह्मेति हेमचन्द्र, शब्दानुशासन, ७.१.१७४

^३ उवटः यस्य पितोः अन्नस्य त्रितः त्रिस्थान इन्द्रः ओजसा बलेन वृत्रम्। विपर्वं विपर्वाणं विगतसन्धिबन्धनं कृत्वा। अर्दयत् विविधम् अर्दितवान्। महीधरः यस्य पितोरोजसा बलेन त्रितः त्रिस्थान इन्द्रः वृत्रं दैत्यं विपर्वं गतसन्धिबन्धनं कृत्वा वि अर्दयत् विविधमर्दितवान्। इन्द्रेण वृत्रो बलेनैव हत इत्यर्थः।

^४ क्षेत्रज्ञ वस्तुतः क्षेत्र (जीव का शरीर) के अन्तर्गत नियन्ता के रूप में विद्यमान आत्मा (प्रत्यगात्मा) है, जो ब्रह्म से अभिन्न है। द्रष्टव्य श्रीमद्भगवद्गीता १३.१ इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते; १३.३३ क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत; १३.२ क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

^५ नि. ११.२३ आदित्यो दक्ष इत्याहुरादित्यमध्ये च स्तुतः। अदितिर्दाक्षायणी।

^६ अर्दितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परी।

^७ नि. ११.२३ तत्कथमुपपद्येत समानजन्मानौ स्यातामिति। अपि वा देवधर्मेणतरेतरजन्मानौ स्यातामितरेतरप्रकृती। तुलनीय नि. ७.४ इतरेतरजन्मानो भवन्तीतरेतरप्रकृतयः। कर्मजन्मानः। आत्मजन्मानः। आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्च आत्मायुध्मात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य।

१०. देवापि तथा शन्तनु

आचार्य यास्क ने ‘समुद्र’ शब्द के निर्वचन-प्रसंग में एक इतिहास प्रस्तुत किया है। तदनुसार आर्षिषेण देवापि तथा शन्तनु दो कौरव्य भ्राता थे। छोटे भ्राता शन्तनु ने देवापि को छोड़कर अपना अभिषेक कर लिया। देवापि तापश्चरण करने लगे। शन्तनु के राज्य में बारह वर्षों तक देव नहीं बरसा। ब्राह्मणों से कहा - “ज्येष्ठ भ्राता को छोड़कर अपना अभिषेक करके तुमने अधर्म किया है; अतः तुम्हारे लिए देव नहीं बरसता”, उस शन्तनु ने देवापि को राज्य सौंपना चाहा; किन्तु देवापि ने उससे कहा - “मैं तुम्हारा पुरोहित हो जाऊँगा और तुम्हें यज्ञ करा दूँगा।” उस वर्षा की कामना वाले देवापि का यह (ऋ. १०.९८) सूक्त है^१।

शौनकीय ‘बृहद्देवता’ में भी ये ही विवरण मिलते हैं, अतिरिक्त सूचना यह है कि ऋषिषेणसुत देवापि त्वग्दोषी थे^२। ‘महाभारत’ के अनुसार देवापि तथा शान्तनु (शन्तनु के स्थान पर) कुरुवंश के प्रसिद्ध पुरुष थे, जो पाण्डु तथा धृतराष्ट्र के पितामह थे। महाभारत युद्ध के समय देवापि जीवित था, जबकि शान्तनु की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। भीष्म शान्तनु के पुत्र थे। शान्तनु द्वारा राज्य पर अधिकार करने के वर्णन ‘महाभारत’ में मिलते हैं^३। एक वर्णन के अनुसार देवापि के चर्मरोगग्रस्त होने के कारण ब्राह्मणों द्वारा राज्याभिषेक के अयोग्य घोषित किए जाने से शान्तनु सिंहासन पर बैठे^४, जबकि जबकि अन्य वर्णन के अनुसार देवापि बाल्यावस्था ही में अरण्यवासी हो गए थे^५। एक अन्य वर्णन के अनुसार शान्तनु प्रतीप की वृद्धावस्था में उत्पन्न इकलौती सन्तान थे^६। सम्भवतः उन्होंने ऋषिदेव के पुत्र पुत्र देवापि को गोद ले लिया होगा; कुरुवंश में आ जाने से उन्हें भी कौरव्य कहना ठीक ही है। यह कथा ‘ब्रह्म’ (९.३५), ‘मार्कण्डेय’ (१३४.७), ‘मत्स्य’ (५०.३७-४६), ‘वायु’ (९९.२३४-२३९) तथा ‘श्रीमद्भागवत’ (९.२२.१०-१५) पुराणों में भी प्राप्य है। इनमें ‘ब्रह्मपुराण’ के अनुसार आर्षिषेण शल के पुत्र थे, न कि ऋषिषेण के। ‘श्रीमद्भागवतपुराण’ के अनुसार शल शन्तनु के पुत्र थे। इस पुराण में देवापि के पुरोहितत्व का उल्लेख नहीं है, ‘वायुपुराण’ के अनुसार वे धर्मकामना से परिव्राजक बन गए थे। इस प्रकार पुराणगत विवरण भिन्न-भिन्न हैं। स्कन्दस्वामी ने दोनों भाइयों को भीमसेन (महाभारतानुसार प्रतीप के पितामह) के पुत्र तथा देवापि को च्यवनापरनामा ऋषिषेण का शिष्य माना है। देवापि ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया^७।

^१ तदेव २.११

^२ बृहद्देवता ७.१५५-१५६

^३ महाभारत, आदि ९४.६२, ९५.४५, ९७.१८; उद्योग. १४९.१५-१८

^४ तदेव उद्योग. १४९.१५-१८

^५ तदेव आदि. ९५.४५

^६ तदेव आदि. ९७.१८-१९, २४

^७ निरुक्तटीका (सं. लक्ष्मणस्वरूप, प्रतिसंस्कृत आचार्य वी.पी. लिमये, दिल्ली पाणिनि वैदिक ग्रन्थमाला ११, १९८५) २.१०

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से इस आख्यान के भिन्न-भिन्न एवं विरोधी से विवरण प्राप्त होते हैं। इससे भिन्न नित्यपक्ष में स्कन्दस्वामी ने देवापि को विद्युत् तथा शन्तनु को वृष्टिरूप जल और बृहस्पति को मध्यमस्थाली स्तनयित्नु (विद्युत्) रूप वाणी माना है। वैद्युत् देवापि ने वृष्टिरूप जल के लिए शन्तनु के निमित्त पौरुहित्य किया; पूर्व विद्युत् चमकती है, बाद में उदकवर्षा होती है^१। दुर्गा ने नित्यपक्ष में मध्यम ऋष्टिषेण के अपत्यरूप पार्थिव अग्नि को आर्ष्टिषेण देवापि और बृहस्पति को वाचस्पति अर्थात् स्तनयित्नु रूप वाणी माना है^२।

आध्यात्मिक दृष्टि से ऋष्टिषेण का तात्पर्य है ऋष्टि अर्थात् कामादि चित्तमलों तथा विषयों के रेषण (हिंसा) से युक्त इन्द्रियग्रामलक्षण सेना वाला व्यक्ति^३; इन गुणों के उत्तरोत्तर विकास से युक्त तदपत्यरूप आर्ष्टिषेण देवापि आत्मलक्षण ब्रह्मरूप देव को प्राप्त करने वाला साधक जीव है, जो ब्रह्मभावरूप साधना रूपी यज्ञ में पुरोहित है जिसे पीछे रखने अथवा जिसकी उपेक्षा करने से ब्रह्मभाव की प्राप्ति शक्य नहीं होती; बृहस्पति परा वाक् है; और वृष्टि तदुपरान्त जायमान रस अर्थात् अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्द जो ब्रह्मरूप है^४। शन्तनु आपाततः शारीरिक कल्याण अर्थात् विषयैश्वर्योपभोगमात्रपरायण सामान्य जीव है^५, उसके राज्य में अनावृष्टि अर्थात् ब्रह्मलक्षण रस का अभाव स्वाभाविक है। उसके लिए तो उसे यज्ञोन्मुख होना ही पड़ेगा। यही इस आख्यान का आध्यात्मिक रहस्य है।

११. भग का अन्धत्व

आचार्य यास्क ने भग के अन्धत्व का उल्लेख किया है और ब्राह्मण के उद्धरणपूर्वक कहा है कि प्राशिन्न ने उनके नेत्रों को नष्ट कर दिया था^६। ब्राह्मणग्रन्थों में उनके अन्धत्व का उल्लेख मिलता

^१ सैव २.१२ बृहस्पतिर्मध्यमस्थाने स्तनयुत्युलक्षणां वाचम्... मध्यमप्रभवत्वाद् देवापिर्विद्युत्, शन्तनुरुदकं वृष्टिलक्षणम्, यत् यदा देवापिर्विद्युत्: शन्तनवे वृष्टिलक्षणस्योदकस्यार्थाय, पुरोहितः - पूर्व हि विद्योतते पश्चादुदकम्।... मध्यमो बृहस्पतिः ददद्वाचं गर्जितलक्षणामस्मै अयच्छत्।

^२ दुर्गावृत्ति (सं. वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े पुणे आनन्दाश्रमग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क ८८, १९२१), २.१२ नैरुक्तपक्षे ऋष्टिषेणो मध्यमस्तदपत्यमयमग्निः पार्थिव आर्ष्टिषेणो देवापि.... बृहस्पतिर्वाचस्पतिरिति मध्यमः । स्तनयुत्युलक्षणां वाचमित्यर्थः।

इस आख्यान की वृष्टिपरक अर्थयोजना से पं. भगवद्दत्त (निरुक्तशास्त्रम्, अमृतसरः श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट, संवत् २०२१, पृ. १००) तथा पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप, अमृतसर श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट, संवत् २०२६, पृ. ३९-४०) भी सहमत हैं।

^३ तुलनीय स्कन्दस्वामी, निरुक्तटीका, २.११ विषयाभिलाषवैमुख्यात् कामादिचित्तमलरेषणप्रधाना सेना इन्द्रियग्रामो यस्य, दूषिता वा प्रेषिता वा गता पराङ्मुखीभूता प्रत्याहारेण विषयेभ्य इन्द्रियसेना यस्य।

^४ तुलनीय तैत्तिरीयोपनिषद् २.७.१ रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति; अथर्व. १०.८.४४ रसेन तृषो न कुतश्चनोनः यही मधु भी है; तुलनीय बृहदारण्यकोपनिषद्, २.५.१४ अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु।

^५ तुलनीय शन्तनु शब्द का निर्वचन नि. २.१२ शन्तनुः शन्तनोऽस्त्विति वा, शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा।

^६ तदेव १२.१४ अन्धो भग इत्याहुरनुत्सृतो न दृश्यते। प्राशिन्नमस्याक्षिणी निर्वचानेति च ब्राह्मणम्। जनं भगो गच्छतीति वा, विज्ञायते जनं गच्छत्यादित्य उदयेन। तुलनीय ऐ. सं. १.६.१२ जनं भगोऽगच्छत्।

है^१। बाद में अश्विनौ ने उनका चक्षुःप्रत्यारोपण किया। द्रष्टृजनों को अनुद्भूत स्थिति में मण्डलाकाररूप (सूर्यभाव) में दृष्टिगत न होने के कारण भग के अन्धत्व की कल्पना की गई है।

१२. मुद्गल भार्म्यश्व

आचार्य यास्क (नि. ९.२३-२४) ने ‘ऋग्वेद’ ८.५.२०-२१ के उद्धरणपूर्वक मुद्गल भार्म्यश्व के इतिहास का संकेत किया है, जिसके अनुसार मुद्गल भार्म्यश्व ऋषि ने शकट में द्रघण (स्कन्दस्वामी द्रुगविकारकाष्ठखण्ड; मुद्गर) तथा वृषभ को जोतकर सेनायुक्त संग्राम में शत्रु को पराजित कर एक सहस्र गायें जीती^२। उद्धृत ऋक् की व्याख्या में भी वे कहते हैं - “इमं तं पश्य वृषभस्य सहयुजं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानं येम जिगाय शतवत् सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु।” मुद्गल भार्म्यश्व ‘ऋग्वेद’ १०.१०२ के ऋषि है; १०.१०२.५.९ में उनका और १०.१०२.२ में उनकी पत्नी मुद्गलानी इन्द्रसेना का भी उल्लेख है^३। आचार्य यास्क के अनुसार मुद्गल भार्म्यश्व भृम्यश्व के पुत्र थे^४। आचार्य यास्क के निर्वचनों की दृष्टि से मुद्गलाला, मुद्गप्रधान भोजन वाला, काम को वशीभूत करने वाला, मद (उद्रेक) को वश में करने वाला अथवा हर्ष को वश में करने वाला व्यक्ति मुद्गल है^५ और अनवस्थायी अश्वों वाला अथवा अश्वों का भरणपोषण करने वाला व्यक्ति भृम्यश्व है^६।

१३. यम तथा यमी

आचार्य यास्क ने ‘यमी’ शब्द के निर्वचन प्रसंग (नि. ११.३३) में ‘ऋग्वेद’ (१०.१०.१४) को उद्धृत कर उसके व्याख्यान के पश्चात् संकेत किया है कि यमी ने यम की कामना की, यम ने उसका प्रत्यारख्यान कर दिया^७। यह एक प्रसिद्ध आख्यान है। आचार्य यास्क यम को यमनकर्ता माध्यमिक देव^८, अग्नि^९ तथा आदित्य^{१०} मानते हैं। स्कन्दस्वामी यम को मध्यमस्थानी वायु^{११}, वायु तथा

^१ शाङ्खायन ब्राह्मण ६.१३ प्राशित्रं परिददुः.... तस्याक्षिणी निर्जघान तस्मादाहुरन्धो भग इति; गोपथ ब्राह्मण २.१.२ तस्य चक्षुः परापतत्तस्मादाहुरन्धो वै भग इति; तुलनीय श.ब्रा. (मा.) १.७.४.६; कौषीतकि ब्राह्मण ६.१३

^२ नि. ९.२३ तत्रेतिहासमाचक्षते मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिवृषभं च द्रुघणं च युत्वा सङ्ग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय।

^३ विस्तरहेतु द्रष्टव्य राहुरकर, वी. जी., पूर्वोद्धृत ग्रन्थ पृ. २६६-२७१

^४ नि. ९.२४ भार्म्यश्वः भृम्यश्वस्य पुत्रः। भृम्यश्वः भृमयोऽस्याश्वाः। अश्वभरणाद्वा।

^५ तदेव ९.२४ मुद्गलो मुद्गवान्, मुद्गगिलो वा, मदं गिलतीति वा, मदङ्गिलो वा, मुद्गङ्गिलो वा।

^६ तदेव ९.२४ भृम्यश्वः भृमयोऽस्याश्वाः। अश्वभरणाद्वा।

^७ तदेव ११.३४ यमी यमं चकमे तां प्रत्याचक्षेत्याख्यानम्।

^८ तदेव १०.१९

^९ तदेव १०.२० अग्निरपि यम उच्यते। द्रष्टव्य तदेव १०.२१ मी। तुलनीय श.ब्रा. (मा.) ७.२.१.१० अग्निर्वैयमः।

^{१०} तदेव १२.२९ यमो रश्मिभिरादित्यः। तुलनीय श.ब्रा. (मा.) १४.१.३.४ एष वै यमो य एष तपति। एष हीदं सर्वं यमयति। एतेनेदं सर्वं यतम्।

^{११} निरुक्तटीका १०.१९ यमो मध्यमस्थानो वायुरित्युक्तम्। तुलनीय श.ब्रा. (मा.) १४.२.२.११ अयं वाव यमो योऽयं पवते।

वैद्युत^१ तथा आदित्य और यमी को रात्रि^२ स्वीकार करते हैं। दुर्ग के अनुसार यमी माध्यमिका वाक् अथवा उषा^३ है। 'काण्व-शतपथ-ब्राह्मण' के अनुसार यमी पृथिवी है^४। सम्भवतः यम तथा यमी को क्रमशः आदित्य तथा रात्रि अथवा आदित्य तथा उषा मानकर उनके अपरिहार्य पृथग्भाव की संगति बैठ सकती है।

आध्यात्मिक दृष्टि से यम ब्रह्मतत्त्व^५ है और यमी जागतिक विषयोपभोग के प्रति गहन आसक्ति की प्रतीक है। विषयलिप्सा तथा ब्रह्मप्राप्ति में ऐक्य किंवा सामंजस्य नहीं बैठ पाता। अतः यम द्वारा यमी का प्रत्याख्यान और अन्य स्वसदृश व्यक्ति के वरण की सम्मति उचित ही है^६।

१४. विश्वकर्मा भौवन का सर्वमेघ

आचार्य यास्क (नि. १०.२६) विश्वकर्मा भौवन के सर्वमेघविषयक इतिहास का संकेत करते हुए कहते हैं कि विश्वकर्मा भौवन ने समस्त प्राणियों का हवन किया और अन्ततः उसने अपने-आपको भी हवन कर दिया^७। 'शतपथ-ब्राह्मण' (मा. १३.७.१.१) में इसका उल्लेख उपलब्ध होता है। 'ऐतरेय-ब्राह्मण' (८.२१) के अनुसार कश्यप ने विश्वकर्मा भौवन का ऐन्द्र महाभिषेक द्वारा अभिषेक किया। विश्वकर्मा ने उन्हें दक्षिणा के रूप में भूमि दान करनी चाही। भूमि ने कहा - "हे विश्वकर्मा भौवन! मुझे कोई मर्त्य दान नहीं कर सकता, आप मुझे देना चाहते हैं; अतः मैं सलिल के मध्य निमग्न हो जाती हूँ। इस प्रकार कश्यप को दिया गया आपका वचन व्यर्थ हो जाएगा।" विश्वकर्मा ऋग्वेद १०.८१-८२ के देवता हैं। सम्भवतः इन दोनों ही सूक्तों में 'विश्वकर्मा' नाम से सृष्टिरचनापरायण परमात्मा ही का वर्णन है। 'निघण्टु' में विश्वकर्मा का पाठ मध्यमस्थानी देवताओं में किया गया है। अतः आचार्य दुर्ग तथा स्कन्दस्वामी ने विश्वकर्मा को वायु माना है^८। अध्यात्मपरक व्याख्यान में दुर्ग क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) तथा परमात्मा रूप में दो विश्वकर्मा माने हैं^९। स्कन्दस्वामी ने, आधिदैविक मत दुर्ग के समान होने पर भी,

^१ सैव ११.३४ यदा नैरुक्तपक्षे मध्यमस्थाना यमी तदा मध्यमस्थानो यमो वायुर्वैद्युतो वा।

^२ सैव ५.२ नित्यपक्षे तु यम आदित्य यम्यपि रात्रिः सोच्यत इति। प्रातरुद्गच्छतः सायं चास्तमयमाना न तिष्ठति।

^३ नि. ११.३४ पर वृत्तिः त्रित्वपक्षे तु माध्यमिको यमो माध्यमिकां वाचमुषसमात्मनः प्रविभक्तामिव कृत्वोभयस्थानां तां ब्रवीति।

^४ श.ब्रा. (काण्व) ५.४.१.२३ इयं पृथिवी यमी आभ्यां हीदं सर्वं यतम्।

^५ तुलनीय ऋ. १.१६४.४६ एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः; तै. आ. ६.५.२ यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जगत्।

^६ ऋ. १०.१०.१४

^७ नि. १०.२६ तत्रेतिहासमाचक्षते विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेघे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार स आत्मनमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। तदभिवादिन्येवर्ग भवति य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति।

^८ दुर्ग यावदिदं किञ्चिद्भूतं करिष्यमाणं च तस्य सर्वस्य कर्ता वाय्वात्मकत्वात्। स्कन्दस्वामी विश्वकर्मा मध्यमस्थानो वायुः।

^९ विश्वकर्मा सर्वस्य कर्ता प्रतिशरीरं क्षेत्रज्ञत्वेन वर्तमानः.... पर एकमाहुः। न यतः परतरमस्ति तस्मिन्परे विश्वकर्माणि.... परमात्मनि तद्विज्ञानोपासनात्.....।

आध्यात्मिक पक्ष में विश्वकर्मा को क्षेत्रज्ञ माना है^१। वेद में आदित्य तथा इन्द्र का भी विश्वकर्मा नाम से वर्णन है^२। आदित्य द्युस्थानी देवता है, जबकि इन्द्र मध्यमस्थानी। ‘ऐतरेय-ब्राह्मण’ (१८.८) के अनुसार अनुसार इन्द्र वृत्र का वध करके विश्वकर्मा हुए और प्रजापति प्रजाओं की सृष्टि करके विश्वकर्मा हुए^३। सायण (ऋ. १०.८२.२) ने अधिदैवतपक्ष में प्रकाश, वृष्टिप्रदान आदि कर्मों के कर्त्ता को आदित्य और अध्यात्मपक्ष में परमात्मा को विश्वकर्मा माना है।

यहाँ विश्वकर्मा भौवन वस्तुतः प्रजापतिरूप परमात्मा ही है; जो प्रलयकाल में समग्र भूतग्राम को अपने अन्तर्गत समाविष्ट कर उसका अपने में हवन करते हैं और सृष्टिकाल में अपने ही को भूतग्राम रूप में आविष्कृत कर अन्तर्यामी प्रत्यगात्मा रूप में उसमें प्रविष्ट हो अपना हवन करते हैं^४।

१५. विश्वामित्र-नदी-संवाद

‘निरुक्त’ (२.२४-२७) के अनुसार ऋषि विश्वामित्र पिजवन के पुत्र सुदास के पुरोहित थे। वे विपाट तथा शुतुद्रि के सम्भेद (संगम) पर (पौरुहित्य से उपार्जित) धन लेकर आए। उनके अनुयायी भी उनके साथ आए। विश्वामित्र ने नदियों से गाहनीय (स्वल्पोदका) होने की याचना की^५। इस प्रसंग में आचार्य यास्क ने ‘ऋग्वेद’ ३.३३.५, ६ तथा १०. को उद्धृत किया है। इस स्थल पर उन्होंने कुछ नामों के निर्वचन अथवा अर्थ प्रस्तुत किए हैं विश्वामित्र सर्वमित्र (जो सबका मित्र है अथवा सब जिसके मित्र हैं - सर्वेषां मित्रम् सर्वे मित्राणि यस्य वा स्कन्दस्वामी आदित्य - सर्वमित्रो भगवानादित्यः, नि. २.२७; सुदास शोभन दान करने वाला; पिजवन स्पर्द्धनीय वेगवान्, अथवा विशेष गति वाला^६। ‘ऋग्वेद’ ३.३३.५ में आगत ‘कुशिकस्य सूनुः’ पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कुशिक एक राजा थे; ‘कुशिक’ के निर्वचन प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं; ‘कुशिक’ शब्दकर्मा कुश से है अथवा प्रकाशार्थक क्रंश से; अथवा सत्पात्रों

^१ विश्वकर्मा क्षेत्रज्ञ आत्मा।

^२ ऋ. १०.१७०.४ (आदित्य/सूर्य) विभ्राजञ्ज्योतिषा स्व१ रगच्छो रोचनं दिवः।

येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता ॥ ऋ. ८.९८.२ (इन्द्र)

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो मह्यं असि ॥

^३ इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा विश्वकर्माऽभवत् प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माऽभवत्।

^४ तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

२.६ तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

^५ नि. २.२४ तत्रेतिहासमाचक्षते विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव।.... स वित्तं गृहीत्वा विपाट् छुतुद्योः सम्भेदमाययौ। अनुययुरितरे। स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव गाधा भवत इति।

^६ तदेव २.२४ विश्वामित्रः सर्वमित्रः। सर्वं संसृतम्। सुदाः कल्याणदानः। पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। पिजवनः पुनः स्पर्द्धनीयजवो वाऽमिश्रीभावगतिर्वा।

को धनों का दाता^१। स्कन्दस्वामी के अनुसार यहाँ नित्यपक्ष में वर्षाकाल में दोनों कूलों को प्लावित करने वाली नदियों का वर्णन है, उन्होंने शरत्काल में प्रतिदिन तारतम्यपूर्वक क्षीयमाणोदका होने का वचन दिया; औषस प्रकाश कुशिक (क्रंश से), कुशिक अर्थात् प्रकाश का पुत्र आदित्य^२ (कुशिकसूनु विश्वामित्र आदित्य)। इस प्रकार इस आख्यान में द्युलोक में उदित आदित्य का नदियों से आलंकारिक संवाद है। स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक के मत में पिजवन वेगवान् वायु अथवा विद्युत् है, जिसके प्रति आदित्य का पुरोहितत्व कल्पित किया गया है^३।

१६. वृक तथा वर्तिका

आचार्य यास्क ने 'वृक' शब्द के निर्वचन प्रसंग (नि. ५.२१) में 'ऋग्वेद- (१.११७.१६)^४ को उद्धृत उद्धृत किया है, जिसके अनुसार अश्विदेवों ने वृक के मुख से वर्तिका को मुक्त किया। श्रीद्याद्विवेद के अनुसार अश्विनौ ने वन में रहने वाले वृक (भेडिण) तथा वर्तिका के संघर्ष में वर्तिका को वृक के मुख से मुक्त किया^५। आचार्य यास्क आदित्य को वृक और उषा को वर्तिका मानकर इस आख्यान की व्याख्या कर संगति स्थापित करते हैं^६।

आध्यात्मिक दृष्टि से वृक आत्मज्ञान अथवा आत्मभाव का विकर्तन करने वाले जागतिक विषयों का व्यामोह अथवा अविद्या है^७; उषा अविद्या के अन्धकार के विवासन के उपरान्त आत्मा के दिव्यज्ञान का उद्भेदन तथा प्रकाशन है^८; और अश्विनौ दो पुरुष^९ - एक तो जीव में विद्यमान आत्मा (प्रत्यगात्मा)^{१०} तथा दूसरा सर्वत्र अभिव्याप्त ब्रह्म, जो व्यावहारिक धरातल पर दो प्रतीत होते हुए भी

^१ तदेव २.२५ कुशिकस्य सूनुः कुशिको राजा बभूव। क्रोशतेः शब्दकर्मणः। क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः साधु विक्रोशयितार्थानामिति वा।

^२ निरुक्तटीका, २.२७ नित्यपक्षे प्रावृषि प्लावितोभयकूला नदी सर्वमित्रो भगवानादित्यः... क्रंशतेः, औषसः प्रकाशः कुशिकः कुशिकस्य प्रकाशस्य सूनुरहमादित्यः, तस्य पुत्रस्थानीय इत्यर्थः।..... एवं प्रावृषि प्रवृद्धोदका प्रत्याख्यायैनं तदर्थानामन्ते वर्षाणां शरदि प्रत्यहं तारतम्येन क्षीयमाणोदका आशुश्रुवुः।

^३ निरुक्तसम्मर्शः (अजमेरः आर्य साहित्य मण्डल लि. मार्च १९६६) पृ. १२०

^४ अजोहवीदश्विना वर्तिका वामास्त्रो यत्सीममुञ्चतं वृक्स्य।

^५ नीतिमञ्जरी (सं. सीताराम जयराम जोशी, वाराणसी कालभैरव, हरिहर मण्डल १९३३) कादिका ४३ अश्विभ्यां मोचिता ग्रस्ता पक्षिणी वर्तिका शुभा; तथा पृ. ९१-९२

^६ नि. ५.२१ आह्वयदुषा अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता तामाश्विनौ प्रमुमुचतुरित्याख्यानम्। इस आख्यानहेतु द्रष्टव्य ऋ. १.११२.८; १.११६.१४; १.११८.८; १०.३९.१३ भी।

^७ तुलनीय नि. ५.२१ श्वापि वृक उच्यते विकर्तनात्।

^८ तुलनीय तदेव २.१९ उषाः कस्मादुच्छतीति सत्याः १२.७ उषा वष्टेः कान्तिकर्मण उच्छतेरितरा माध्यमिका।

^९ श.ब्रा. (मा.) १२.९.१.१२ तद्यौ ह आ इमौ पुरुषाविवाक्ष्योः। एतावेवाश्विनौ।

^{१०} श.ब्रा. (काण्व) ३.२.४.१ इकादशो वा अयं पुरुषः दश प्राणा आत्मैकादश। तै. आ. १०.२०.१० यस्मात्परं नाऽपरमास्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न जयायोऽस्ति किञ्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। नि. २.३ पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तर पुरुषमभिप्रेत्य। ऋ. १०.९०.२ पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।

सम्बद्ध (तुलनीय अश्विनौ के लिए प्रयुक्त ‘नासत्या’ विशेषण) तथा एक ही हैं^१। ये पुरुषद्वयरूप अश्विदेव अश्विदेव जागतिक विषयों के व्यामोह अथवा अविद्या से अभिग्रस्त आत्मचेतना के उद्भेदन को मुक्त करते हैं, इनके सत्यज्ञान से वह चतुर्दिक् उन्मुक्त हो विकीर्ण हो उठती है। इनमें प्रथम का अनुसन्धान जीव को ज्योति से भर देता है तो दूसरे के ऐक्य की अनुभूति उसे रसवर्षा से तृप्त एवं पूर्ण कर देती है^२।

१७. श्येन तथा सोम

आचार्य यास्क (नि. ११.१) ने श्येन-प्रसंग में ‘ऋग्वेद’ (४.४६.७) की ऋक् को उद्धृत कर उसके भाष्य में शंसनीय गति वाले श्येन^३ द्वारा सोम को अपने मुख में प्राप्त करने अर्थात् पीने^४ का उल्लेख किया है - आदाय श्येनो अभरत् सोमं सहस्रं सर्वा अयुतं च साकम्।

अत्रा पुरधिरजहादरातीर्मदे सोमस्य भूरा अमूरः ॥

इस ऐन्द्र सूक्त के मन्त्र में श्येन के सोमपान (आदाय श्येनो अभरत् सोमम्; मदे सोमस्य) की स्तुति (वर्णन) से यहाँ श्येन को इन्द्र ही माना जाएगा^५।

१८. सरण्यू तथा विवस्वान्

‘सरण्यू’ शब्द के निर्वचन-प्रसंग (नि. १२.९) में उद्धृत ‘ऋग्वेद’ (१०.१७.२) के व्याख्यान के अन्तर्गत आचार्य यास्क (नि. १२.१०) ने एक इतिहास प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार त्वष्टा की पुत्री सरण्यू ने विवस्वान् आदित्य से यमज मिथुन (यम-यमी) को उत्पन्न किया। वह (सरण्यू) दूसरी सवर्णा को अपना प्रतिनिधि बनाकर आश्वरूप धारण कर भाग गई। विवस्वान् आदित्य अश्व का ही रूप धारण कर उस (सरण्यू) का अनुसरण कर उससे संगत हो गया, तब अश्विनौ उत्पन्न हुए। सवर्णा में मनु उत्पन्न हुआ^६। ‘बृहद्देवता’ तथा पुराणों में इस आख्यान के विविध विवरण प्राप्त होते हैं^७। आचार्य यास्क

^१ तैत्तिरीयोपनिषद् २.८ स यश्चायं पुरुषे यश्चासावदित्ये स एकः वाजसनेयि संहिता ४०.१७ योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसाव्रह्मम्।

^२ तुलनीय नि. १२.१ अश्विनौ यद् व्यश्रुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्यः।

^३ द्रष्टव्य नि. ४.२४ श्येनः शंसनीयं गच्छति।

^४ द्रष्टव्य स्कन्दस्वामी, नि. ११.१ आदाय गृहीत्वा श्येनो मध्यमस्थानः। अभरत् अहरत् स्वमास्यं प्रापितवान् पीतवानित्यर्थः। दुर्गः श्येनः इन्द्रः सोमाम् आदाय अभरत् अपिवत्।

^५ नि. ११.१ आदाय श्येनोऽहरत् सोमं सवानयुतं च सह सहस्रं सहस्राव्यमभिप्रेत्य तत्रायुतं सोमभक्षास्तत्सम्बन्धेनायुतं दक्षिणा इति वा पुरन्धिरजहादमित्रानदानानिति वा। मदे सोमस्य भूरा अमूरः। इति ऐन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन च स्तुतस्तस्मादिन्द्रं मन्यन्ते। तुलनीय इन्द्रदेवताक मन्त्र में इन्द्र भी श्येन पक्षी से तुलना,

ऋ.१.३२.१४ अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र हृदि यत्ते जष्टुषो भीरगच्छत्।

नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि ॥

^६ नि. १२.१० तत्रेतिहासमाचक्षते त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद्भूमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार। सा सर्वाभ्यां प्रतिनिधायार्थं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव। स विवस्वानादित्य आश्वं रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव। ततोऽश्विनौ जजाते। सवर्णायां मनुः।

^७ इस आख्यानहेतु द्रष्टव्य धर्मदेव निरुक्ताचार्य त्वाष्ट्री सरण्यू के आख्यान का वास्तविक स्वरूप, रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला सं. १६ संवत् २००६

यास्क ने यमज मिथुन को नैरुक्तों के अनुसार मध्यम तथा माध्यमिका वाक् और ऐतिहासिकों के मत में यम तथा यमी स्वीकार किया है। आख्यान के अन्त में 'ऋग्वेद' १०.१७.१ के "यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश" की व्याख्या के अन्तर्गत उन्होंने विवस्वान् को आदित्य तथा सरण्यू को रात्रि मानकर कहा है कि आदित्य के उदित होने पर वह अन्तर्हित हो जाती है^१। स्कन्दस्वामी अश्विनौ को तमोभाग तथा ज्योतिर्भाग, यमज मिथुन को मध्यम अर्थात् तमोभाग तथा तदन्तर्गत माध्यमिका वाक् मानते हैं^२। आगे 'ऋग्वेद' १०.१७.१ के आख्यानान्तर्गत वे नैरुक्तपक्ष में मध्यम तमोभाग को त्वष्टा तथा उषा को उसकी दुहिता मानते हैं। उषा के उदित होने पर तम भाग जाता है और आदित्य उदित होता है। 'रात्रि' उनकी दृष्टि में रात्रि का एकदेश उषा ही है^३। दुर्ग यम तथा यमी को मिथुन मानते हैं और नैरुक्तपक्ष में स्कन्दस्वामी से सर्वथा सहमत हैं^४।

१९. सरमा तथा पणि

'सरमा' शब्द के निर्वचन-प्रसंग में उद्धृत 'ऋग्वेद' १०.१०.८१ के व्याख्यान में आचार्य यास्क का कथन है कि इन्द्र द्वारा प्रहित देवशुनी सरमा ने पणियों से संवाद किया - ऐसा आख्यान है^५। पणियों ने देवों की गायें चुरा ली थीं; इन्द्र ने सरमा को गवान्वेषण के लिए भेजा था। यह एक प्रसिद्ध आख्यान है। आचार्य यास्क द्वारा सरमा माध्यमिक देवताओं में पठित है। वे उसे शीघ्रगामिनी होने से 'सरमा' मानते हैं^६। स्कन्दस्वामी ने सरमा को मध्यमस्थाना वाक् माना है; उनके अनुसार अनावृष्टि से पीडित मन्त्र द्रष्टा, शब्द करते हुए स्तनयित्नु मेघ को सुनकर, असूयापूर्वक यह कहता है^७। दुर्ग भी उनसे सहमत हैं^८। मैत्रायणी-संहिता के अनुसार भी सरमा वाक् ही है^९; गायें रश्मियाँ हैं^{१०}। अतः सरमा द्वारा गवान्वेषण वस्तुतः मध्यमस्थाना स्तनयित्नु वाक् द्वारा सूर्य रश्मियों का अनुसंधान है^{११}।

^१ नि. १२.११ यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश। रात्रिरादित्यस्य। आदित्योदयेऽन्तर्धीयते।

^२ निरुक्तटीका १२.१० अश्विनावात्मनि धारयति तमोभागं ज्योतिर्भागं चेत्यर्थः। द्वौ मिथुनौ स्त्रीपुंसौ मध्यमञ्च तमोभागं तदन्तर्गतां च माध्यमिकां वाचं च....।

^३ सैव १२.११ नैरुक्तपक्षे त्वस्यामृचि त्वष्टा मध्यमस्तमोभागस्तस्य दुहिता उषाः। तेन रात्रिरूपेण सूर्योदये जन्यमानत्वात्तस्या वहनं प्रापणमनुप्रवेश आदित्ये तं स मध्यमस्त्वष्टा रात्रिरूप आत्मापगमनेन करोति।.... उदितायां ह्युषसि अपैतीदानीं तम उदेत्यादित्यः....। रात्रिरादित्यस्येति च रात्रिशब्देन रात्रेरेकदेशत्वादुषा एवोच्यते सम्बन्धात्। सा च देवधर्मणादित्यस्य माता। ब्रह्मपुराण (८९.३) में तो उसका सरण्यू के स्थान पर उषा ही नाम दिया गया है तस्य पत्नी उषा ख्याता त्वाष्ट्री त्रिलोक्यसुन्दरी।

^४ नि. १२.१०-११ पर वृत्ति।

^५ नि. ११.२५ देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूद इत्याख्यानम्।

^६ तदेव ११.२४ सरमा सरणात्।

^७ निरुक्तटीका, ११.२५ यदा तु माध्यमिका वाक् सरमा तदैवम्। अनावृष्ट्या पीडितो नदन्तं स्तनयित्नुमुपश्रुत्य सासूर्यं मन्त्रदृगाह।.... सरमा मध्यमस्थाना वाक्।

^८ नि. ११.२५ पर वृत्ति वाक्यपक्षे तु चिरकालीनवृष्टिव्युपरमे कदाचिदभिनवमेधसं वै सहसैव स्तनयित्नुमुपश्रुत्य कुत इयं माध्यमिका वाक् चिरेणागतेति विस्मितस्तायसूयान्निव ब्रवीति किमिच्छन्ती सरमा इति। इदमस्मच्छ्रोत्रं चिरमनागम्य सरमा माध्यमिका वाक् किमिच्छन्ती प्रानद् आपवती।

^९ ४.६.४ वाग् वै सरमा।

आचार्य यास्क की दृष्टि से मन्त्रगत इतिहास अथवा आख्यान तत्त्वतः औपचारिक अर्थवादात्मक, उपमार्थक अथवा आलंकारिक हैं; इन इतिहासों अथवा आख्यानों को आधुनिक अर्थ में इतिहास अथवा व्यक्तिविशेषों/घटनाविशेषों के विवरण नहीं माना जा सकता। स्वयं यास्क आख्यान के रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि अर्थद्रष्टा ऋषि की आख्यान से संयुक्त अर्थ में प्रीति होती है^१, जिससे सिद्ध है कि ऋषि द्वारा दृष्ट, मन्त्रगत प्रतिपाद्यरूप अर्थ तत्त्वतः अन्य होता है और उससे संयुक्त इतिहास, आख्यान आदि मुख्यार्थ के रूप में उससे भिन्न।

आचार्य दुर्ग वेद के प्रसंग में इतिहास का लक्षण करते हुए कहते हैं कि जब भाग्यवश उदित अर्थ के अवभासनार्थ किसी आध्यात्मिक, आधिदैविक अथवा आधिभौतिक अर्थ का आख्यान किया जाता है तो उसे ‘इतिहास’ कहते हैं, वह सब प्रकार का इतिहास नित्य होता है, उसका स्वार्थ (मुख्यार्थ, वाच्यार्थ, साक्षात्संकेतितार्थ) विवक्षा का विषय नहीं होता; उसका तात्पर्य तो उस अर्थ के प्रतिपत्ताओं (बोद्धाओं) के प्रति उपदेश होता है^२। आचार्य वररुचि भी मन्त्रगत आख्यानों को औपचारिक ही मानते हैं, क्योंकि वैसा न मानने से वेद के नित्यत्व का विरोध होता है^३। नित्य वेद में अनित्य पदार्थविशेषों, व्यक्तिविशेषों किंवा घटनाविशेषों का वर्णन कैसा? स्कन्दस्वामी के मत में भी आख्यानस्वरूप मन्त्रों की योजना यजमान तथा नित्यपदार्थों में कर लेनी चाहिए; मन्त्रों में आख्यानसमय औपचारिक है, परमार्थतः नित्यपक्ष ही सत्य है^४। शबरस्वामी का भी मत है कि असत् (अघटित, कल्पित) वृत्तान्त का अन्वाख्यान स्तुति द्वारा उसकी प्रशंसा को व्यक्त करने के लिए किया जाता है; वृत्तान्त का अन्वाख्यान वृत्तान्तज्ञापन के निमित्त न होकर प्ररोचनामात्र के लिए होता है^५।

प्रो. मानसिंह

६०/३, मुंशी प्रेमचन्द मार्ग, नवीन नेहरुनगर,
रुडकी २४७६६७ (जनपद - हरिद्वार) उत्तरांचल

^१ नि. २.७ सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते।

^२ निरुक्तगत कतिपय विशिष्ट आख्यानों के लिए द्रष्टव्य मानसिंह वैदिक आख्यान और आचार्य यास्क” श्री गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ शोधपत्रिका प्रयाग खण्ड १७ भाग १-४ जन. - दिस. १९९१ पृ. १८१-१९४

^३ नि. १०.१०.४६ ऋषेष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता।

^४ तदेव १०.२६ पर वृत्तिः यः कश्चिदाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकोवाक्षं आख्यायते दिष्ट्युदितार्थावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। स पुनरितिहासः सर्वप्रकारो नित्यभविष्यतस्वार्थस्तदर्थप्रतितुणामुपदेशापरत्वात्।

^५ निरुक्तसमुच्चयः (सं.पं. युधिष्ठिर मीमांसक, अजमेर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान द्वितीय संस्करण, संवत् २०२२) पृ. १४२ औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वारख्यानसमयः। नित्यत्व विरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः।

^६ निरुक्तटीका २.१२ एवमारख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या। एषः शास्त्रेसिद्धान्तः। औपचारिको मन्त्रेष्वारख्यानसमयः। परमार्थं नित्यपक्ष इति सिद्धम्।

^७ जैमिनिस्मृत १.२.१० पर भाष्य असद् वृत्तान्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमानत्वात् १.२.३० पर भाष्य वृत्तान्तान्वाख्यानं न वृत्तान्तज्ञापनाय। किं तर्हि ? प्ररोचनायैव। इस विषय में द्रष्टव्य मानसिंह, पुरोवाक् पं. शिवशङ्कर काव्यतीर्थ वैदिक इतिहासार्थ निर्णय (सं. ब्रह्मदेव विद्यालङ्कार कुरुक्षेत्र सत्यार्थप्रकाशन न्यास २००९)।